श्रमणाचार परिचायक कतिपय पारिभाषिक शब्द

उपाध्याय श्री रमेशमुनि जी शास्त्री

प्रस्तुत आलेख में उपाध्याय श्री ने श्रमणाचार से सम्बद्ध श्रमण, चारित्र, सामायिक, छेदोपस्थापनीय, आवश्यक आदि विभिन्न शब्दों की विवेचना की है। इससे श्रमण-जीवन से सम्बद्ध विभिन्न पहलुओं का बोध हो सकेगा। **-सम्पादक**

श्रमण संस्कृति वह संस्कृति है, जो आस्था और व्यवस्था के दृष्टिकोण से शिरसि शेखरायमाण स्थान पर अतिशय रूप से शोभायमान है। सम्यक् श्रम-साधना पर आधारित स्वावलम्बन एवं सद्गुण प्रधान श्रद्धान श्रमण संस्कृति का निर्दोष लक्षण है। प्रस्तुत संस्कृति से अनुप्राणित और अनुप्रीणित प्रत्येक सत्प्राणी अपने पौरुष के माध्यम से स्वयं कर्म-कर्ता है और स्वयं कृतधर्म के फल का भोक्ता है। इस परिप्रेक्ष्य में उसको किसी सत्ता अथवा शक्ति के कृपा-भाव की आकांक्षा कदापि नहीं रहती है। किसी के भी कृपा भाव का आकांक्षी होने पर उसे स्वावलम्बी बनने में व्यवधान समुत्पन्न होता है। श्रमण सर्वदा सर्वथा रूप से स्वाधीन होता है। वह समझपूर्वक अपनी श्रम-साधना के आधार पर उत्तरोत्तर आत्मिक विकास को उपलब्ध करता है। अतः यह पूर्णतः सिद्ध है कि श्रमण स्वयमेव पुरुषार्थ का सम्पादन कर स्व-पर के कल्याण में नित्यशः प्रवृत्त होता है।

यह एक सत्यपूर्ण कथ्य है कि स्वाधीनता प्रधान सम्यक् आस्था की अपनी सर्वांग व्यवस्था भी होती है। इस व्यवस्था में किसी सत्ता किं वा शक्ति की वन्दना अथवा पर्युपासना करने का कोई विधान एवं प्रावधान नहीं होता है। आत्म-गुणों का सश्रद्ध स्मरण करना तथा उन्हें जान और पहिचान कर उनकी वन्दना एवं उपासना करना उसे सम्पूर्णतः अभिप्रेत रहा है। इस प्रक्रिया से अध्यात्म-साधक अपने अन्तरंग में प्रतिष्ठित आत्मिक-शक्ति अथवा सत्ता के गुणों का जागरण और उज्जागरण करता है। श्रमण-चर्या का आत्म-विकास त्रिविध चरण में सम्पन्न होता है। जो पञ्चपद परमेष्ठी में 'गुरुपद' के रूप में प्रतिष्ठित है और वे साधु पद, उपाध्याय पद एवं आचार्य पद के रूप में उपास्य हैं। इनकी वन्दना करने से साधक के आत्म-विकास की स्वयमेव वन्दना है।

यह स्पष्ट है कि गुरुपद में प्रथम पद के रूप में 'साधुपद' आत्मिक-विकास की प्राथमिक प्रयोगशाला है। साधु सर्वप्रथम जागतिक जीवन की भूमिका से सर्वथा-विरक्त होकर अपनी साधना सम्पन्न करता है। साधु अर्थात् श्रमण की आचार-संहिता से सम्बन्धित बहुविध शब्दावली है। शब्द स्वयं में एक शक्ति है और अभिव्यक्ति उस शक्ति का परिणाम है। श्रमण-चर्या का प्रत्येक शब्द वस्तुतः अपनी अर्थ-सम्पदा की अपेक्षा से अतीव-विशिष्ट है। उस आर्थिक गौरव और वैशिष्ट्य की अपनी परिभाषा है। उसी शब्दावलि से सन्दर्भित कतिपय शब्दों की परिभाषा को परि-स्पष्ट करना वस्तुतः मेरा व्यक्तिगत विनम्रता पुरस्सर अभिप्रेत है।

शब्दावलि को अकारादिक्रम से प्रस्तुत कर पाना इसलिये संभव नहीं है कि यहाँ शब्दकोष की रूपरेखा नहीं है, किन्तु अनिवार्य और प्रासंगिक शब्दों का अर्थ एवं आशय प्रस्तुत है।

1. **श्रमण**- जो संयम-साधना और तप आराधना में व्रत रूप श्रम करता है, वह श्रमण है।[1] यह श्रमण शब्द की निरुक्ति है, जो उसकी उत्तम कार्य-जन्य प्रशस्तता और यशस्विता का परिज्ञापक है। श्लोक शब्द का वाच्य अर्थ भी ऐसा ही है। वह यश-कीर्ति का सूचक है। श्रमण को सर्वजन का अतिथि कहा गया है। जिसके भिक्षादि हेतु आगमन की कोई तिथि नहीं होती है, उसे अतिथि कहा जाता है।[2] श्रमण इसी श्रेणी के अन्तर्गत है।

2. **चारित्र**- जीव का स्वभाव में चरणशील और रमणशील रहना 'चारित्र'[3] है। जब आत्मा स्व-भाव में स्थित है, तब परभाव का स्वतः त्याग हो जाता है। चारित्र विधिमूलक विधा है। उसी का निषेध अर्थात् प्रतिषेध मूलक रूप वैभाविक परिणति का किंवा समग्र सावद्य-योगों का परित्याग है। जब अध्यात्म-साधक चारित्राधना में दीक्षित होता है, संयम-साधना में प्रवृत्त होता है तब वह ''मैं सर्व सावद्य योगों का त्याग करता हूँ' यह जो अर्थ गौरव से अन्वित भाषा है, वह परभाव से स्वभाव में आने का आख्यान है।

3. **सामायिक**[4]- व्याकरण के दृष्टिकोण से सम, आय एवं इक प्रत्यय-पूर्वक 'सामायिक' शब्द का गठन हुआ है। यह व्याकरण की तद्धित प्रक्रिया के अन्तर्गत समाहित है। 'सम' शब्द का अर्थ भी समत्व, समभाव अथवा आत्मस्वरूप है। आय का अर्थ 'प्राप्ति' है। जिस साधना की प्रक्रिया से विभावगत आत्मा स्वभाव में आती है। कर्मगत घनीभूत आवरणों से आच्छन्न आत्मा जब अपना विशुद्ध स्वरूप प्राप्त करती है, तब वह सामायिक है। सामायिक-साधना के व्यावहारिक रूप में पञ्चविध महाव्रत का मन, वचन, काय द्वारा, कृत, कारित और अनुमोदित के रूप में पालन किया जाता है। नवदीक्षित श्रमण जीवन पर्यन्त इनके पालन हेतु प्रतिज्ञाबद्ध होता है, कृत संकल्प हो जाता है।

4. **छेदोपस्थापनीय**- इस शब्द में 'छेद' और 'उपस्थापनीय'[5] इन दोनों का योग है। व्याकरण के अनुसार यह 'चाहिए' वाचक 'अनीयर्' प्रत्यय के योग से गठित शब्द है। सातिचार और निरतिचार के रूप में इसके दो भेद हैं - साधुत्व अर्थात् संयम के मूल गुणों में किसी प्रकार का विघात अथवा छेद-भंग होने पर जब उसको पुनरपि दीक्षा दी जाती है, तो वह सातिचार छेदोपस्थापनीय नामक चारित्र है। निरतिचार में दोष का कोई स्थान नहीं है। इत्वरिक सामायिक के अनन्तर जब कुछ काल पश्चात् उसमें महाव्रतों का आरोपण किया जाता है, उसे दीक्षा दी जाती है, वह निरतिचार छेदापस्थपनीय है।

5. **आवश्यक**- इसके मूल में 'अवश्य' शब्द है, जिसे किये बिना नहीं रहा जा सकता। अन्य शब्दों में, जो अपरिहार्य है, अतिशय रूप से अनिवार्य है, अवश्य करने योग्य धार्मिक अनुष्ठान का विधायक होने से इसे 'आवश्यक' कहा जाता है।[6] जो गुणों को आत्मवशगत बनाता है, आत्मा में सद्गुणों को सन्निहित करता है, निष्पादित करता है, वह आवश्यक है।[7] इन्द्रिय एवं कषाय आदि भावशत्रु जिसके द्वारा जीते जाते

हैं, जिसके स्वीकरण से वश में किये जाते हैं, वह 'आवश्यक' है।[8] आवश्यक के अतिरिक्त 'आवसक' भी होता है। इसी शब्द को अधिकृत कर ऐसा कहा जा सकता है कि जो आत्मा मूलगुणों को भूल जाने से शून्यवत् है, उसे गुणों से सुवासित, सुरभित, पुनः संयोजित कर जो सुशोभित करता है वह आवसक अर्थात् आवश्यक है। 'आवश्यक' की आराधना के धरातल पर ही श्रमणत्व और श्रावकत्व प्राणवान् बनता है। आवश्यक के सामायिक, चतुर्विंशति स्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण एवं प्रत्याख्यान रूप षट् सोपानों पर पर्यटनशील अध्यात्म साधक शीघ्र ही स्वात्मा के सिद्ध स्वरूप में स्वयं को प्रतिष्ठित कर लेता है।

6. **आचार्य-** साधुचर्या का आत्म-विकास दो चरणों में सम्पन्न होता है। उनमें 'आचार्य' चरण भी है। जैन धर्म में चतुर्विध धर्मसंघ के संचालन के लिये जो प्रणाली निर्धारित की गई थी, वह एक ऐसी सुनियोजित, सुव्यवस्थित, सुव्यवहार्य और सुस्वस्थ सांकुश एकतन्त्री परम्परा थी, जिसमें धर्म-संघ के सर्वोपरि अधिनायक आचार्य श्री के प्रति अगाध श्रद्धान और अपार विश्वास के उपरान्त भी उसमें पूर्वाग्रह के कारागृह से उन्मुक्त चिन्तन के लिये पूर्ण रूप से अतिशय अवकाश था। 'आचार्य' शब्द आङ्. उपसर्ग पूर्वक "चर् गति-भक्षणयोः" धातु से 'ध्यण्' प्रत्यय जोड़ कर निष्पन्न होता है। जो आचार संहिता का निर्दोष एवं दृढ़ता से पालन करता है, वह आचार्य है।[9] जिसने आचार के अनुरूप स्वयं को रूपायित किया है वह आचार्य है।[10] मर्यादा के साथ जिनकी सेवा-भक्ति की जाती है, साधक आध्यात्मिक रहस्यों के समुद्घाटन हेतु जिसका अनुसरण करता है, वह आचार्य है। धर्म संघ में आचार्य पद की अपनी गरिमा रही, उसका अपना महत्त्व भी रहा।

7. **उपाध्याय-** साधुचर्या के द्वितीय चरण के रूप में 'उपाध्याय' पद का स्वरूप है। आचार्य पर गुरु गम्भीर उत्तरदायित्व रहा, वे दायित्वों का कर्त्तव्य के साथ निर्वहन करते थे। आचार्य के अतिरिक्त जो अन्य पद निर्धारित हुए थे, वे पद आचार्य को सहयोग-सहकार प्रदान करने के लिये थे, जिससे धर्मसंघ के श्रमणों एवं श्रमणियों का निर्दोषरूपेण संयम-पालन, आगमीय अध्ययन, संचरण-विचरण, वर्षावास, वस्त्र-पात्र उपकरणों की व्यवस्था, प्रवास प्रभृति में भी समीचीन दृष्टि से गतिशील रह सकी। आचार्य श्री जी अन्यान्य सप्तविध पदों में से जितनों की, जब अनिवार्य समझते थे, तब उन पदों की नियुक्ति श्री संघ की सम्मति से करते थे। पद-पूर्ति का आधार निर्वाचन नहीं, अपितु चयन और मनोनयन था। सप्त पदों में आचार्य के अनन्तर उपाध्याय का स्थान था। यह द्वितीय पद अद्वितीय रूप में रूपायित रहा।[11] उपाध्याय शब्द 'उप', 'अधि' उपसर्ग पूर्वक 'इङ्.' अध्ययने धातु से कृदन्त के 'घञ्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। जो साधक सद्गुरु आदि गीतार्थ संयमाधिपति मुनीश्वरों की सन्निधि में रहकर आगम-साहित्य एवं धर्मग्रन्थों का शुभ योग एवं उपधान तप के अनुष्ठान के साथ स्वयं भी अध्ययन करते हैं, चतुर्विध धर्मसंघ के सदस्यों को भी करवाते हैं, वे उपाध्याय हैं।[12] किं बहुना, पंच पदों में आचार्य के सदृश उपाध्याय का भी सश्रद्ध स्मरण एवं सभक्ति नमन किया जाता है, एतदर्थ वे भव्यात्माओं के लिये परमेष्ठी रूप हैं।

8. **रजोहरण-** श्रमण के प्रत्येक चरण में अहिंसा की प्रधानता सुनिश्चित रूप से रहती है। श्रमण-समूह के संक्षिप्त, किन्तु प्रमुख उपकरणों में 'रजोहरण' भी एक है। यह वह शब्द विशेष है, जो दो उपशब्दों से गठित है। प्रथम 'रज' है और द्वितीय 'हरण' है। यह धूल-कणों को दूर करने का उपकरण है। 'रजोहरण' का निर्माण पांच प्रकार के धागों के योग से बनता है। उनके नाम इस प्रकार से हैं[13] -

और्णिक- ऊन से बने सूत अर्थात् धागों को और्णिक कहा जाता है।[14] ऊन प्रायः भेड़ के बालों से प्राप्त होती है। यह अनेक प्रकार की होती है। ऊन के सूत से निर्मित वस्त्र अत्यंत गर्म होते हैं। सर्दी में प्रायः ऊनी वस्त्रों को धारण करने का प्रचलन रहा है।

औष्ट्रिक- ऊँट के बालों के धागों से निर्मित वस्त्र 'औष्ट्रिक' कहलाते हैं। इस धागे से बने वस्त्र भी प्रयोग में आते हैं।

मृगलौमिक- हिरण के बालों से बने सूत 'मृगलौमिक' कहलाते हैं।

कौतव- कुतुपिक अर्थात् कुतुप अथवा कुश आदि घास से बना सूत 'कौतव' कहा जाता है।

किट्टिस- और्णिक आदि धागों से बनाते समय इधर-उधर बिखरे बालों का नाम 'किट्टिस' है। इनसे निर्मित अथवा और्णिक आदि सूत को दुहरा-तिहरा करके बनाया गया सूत अथवा घोड़ों आदि के बालों से बना सूत 'किट्टिस' कहलाता है। उपर्यंकित धागों से कलात्मक रूप में रजोहरण का निर्माण किया जाता है। चलते-फिरते, उठते-बैठते अथवा लेटते समय स्थान को छोटे-छोटे कृमि-कीटों जीव-जन्तुओं की रक्षार्थ रजोहरण का प्रयोग एवं उपयोग किया जाता है। विहारों में यदि किसी प्रकार के जीवों की विराधना होने की सम्भावना होती है, तब श्रमण रजोहरण के द्वारा उनकी पूर्ण रक्षा करता है।

9. **समाचारी-** यह वह विशिष्ट रूपेण क्रिया-कलाप है, जो साधु की सम्यक् चर्या के लिये मौलिक नियमों के समान आत्यन्तिक आवश्यक और अतिशय-अनिवार्य रूप सत्कर्म है। श्रमणाचार को द्विविध-विभाग में वर्गीकृत किया गया है। प्रथम व्रतात्मक आचार है और द्वितीय व्यवहारात्मक आचार है। व्रतात्मक आचार वस्तुवृत्त्या पंचविध महाव्रत है। यह श्रमण-जीवन को सर्वथा-निर्दोष एवं सम्पूर्णतः स्वावलम्बी बनाता है। इससे आत्मिक आलोक प्रदीप्त होता है। व्यवहारात्मक सदाचरण परस्पर संपूरक की स्वस्थ भूमिका का सम्यक् निर्वाह करता है। विचार जब व्यवहार के रूप में चरितार्थ होता है, तब सामाचारी का जन्म होता है। साधुचर्या की अहर्निश प्रवृत्तियाँ वस्तुतः सामाचारी के अन्तर्गत समाहित हैं। सामाचारी साधु समुदाय एवं साध्वी-समवाय किंवा संघीय-जीवन जीने की नियमावली है। आवश्यकी, नैषेधिकी, आपृच्छा, प्रति-पृच्छा, छन्दना, इच्छाकार, मिच्छाकार, तथाकार, अभ्युत्थान तथा उपसम्पदा नामक दशविधि प्रयोग-सामाचारी समास शैली से सम्प्राप्त होती है।[15] इस प्रकार साधुचर्या का समुत्कर्ष दशांग सामाचारी के आधार पर निर्भर करता है। इससे उसके जीवन-उपवन में सद्गुणों के सहस्र-सहस्र सुमन महकते हैं।

10. **संथारा-** यह वह प्रक्रिया है, जहाँ श्रमण मृत्यु को महोत्सव के रूप में प्रसन्नता-पुरस्सर मनाता है। संलेखना संथारे के पूर्व की भूमिका है। संलेखना के अनन्तर जो संथारा किया जाता है, उसमें अधिक विशुद्धता आविर्भूत होती है। साधक को संथारा ग्रहण करने के पूर्व संलेखना का संपालन करना अनिवार्य होता है। संलेखना के स्थान पर संल्लेखना शब्द भी व्यवहृत है। जिस क्रिया के द्वारा शरीर और कषाय को कृश एवं दुर्बल किया जाता है वह संलेखना है।[16] शरीर को कृश करना द्रव्य संलेखना है तथा कषाय को कृश करना 'भाव-संलेखना' है। संलेखना अध्यात्म-साधक के अन्तर्मन की उच्चतम भाव-स्थिति है। यह मरण का सहर्ष स्वागत है, सादर वरण है। यह श्रमण-जीवन की उस निष्काम, निःसंग और स्थितप्रज्ञ की अवस्था में प्रवेश है। इतना ही नहीं, वह भेद विज्ञानी विशिष्ट श्रमण निराकुल अन्तःस्थिति में अपनी जागतिक-पर्याय का परित्याग कर नवीन पौद्गलिक शरीर पर्याय को ग्रहण करने की आकांक्षा को तिलांजलि देता है।

11. **प्रवचन माता-** यह वह आचार-संहिता है, जो श्रमण-जीवन के लिये वरदान रूप है। पंचविध समितियों और त्रिविध गुप्तियों को समवेत रूप से 'प्रवचन-माता' की अभिधा से अभिहित किया है[17] एवं 'समिति' का नाम संस्कार भी हुआ है।[18] प्रवचन माता एवं समिति यह नामकरण भी अभिप्रेत-अभिप्राय को प्रद्योतित करता है। सर्व प्रवचन और सर्वगुप्ति की पृष्ठभूमि में तथ्यद्वय संनिहित है। प्रथम तथ्य यह है कि धर्मशासन इन्हीं से समुद्भूत हुआ है, एवं यह द्वादशांगी का सार है। द्वितीय तथ्य यह है कि श्रमण के अहिंसा, सत्य प्रभृति महाव्रतों की यह माता के समान परिपालना करती है। माता की यही अभीप्सा रहती है कि आत्मप्रिय पुत्र सन्मार्ग पर अग्रसर रहे। वह अपने चिरंजीव के संरक्षण तथा चाारित्र-निर्माण के लिये नित्यशः प्रयासशील रहती है। यह माता साधक को सम्यक् प्रवृत्ति की ओर बढ़ने की सप्राण प्रेरणा देती है, उन्मार्ग पर जाने से एवं दुष्प्रवृत्ति से रोकती है, उसके चारित्र धर्म का विकास करती है, शुभ में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति कराती है। सम्यक् प्रवृत्ति का नाम 'समिति' है और अशुभ से निवृत्ति 'गुप्ति' है। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और परिष्ठापनिका के रूप में समिति पाँच प्रकार की है। श्रमण की चर्या वस्तुतः समिति-सम्पृक्त होती है। जब उनके चरण चलते हैं, तब ईर्या समिति चरितार्थ होती है। वे जब भी बोलते हैं, तब उनके वचन यथार्थ में प्रवचन बन जाते हैं। वे जब आहार ग्रहण करते हैं, तब षट्रस एकमेक होकर विरस, किन्तु सरस हो जाते हैं। वस्तु के निक्षेपण और प्रतिष्ठापन समिति-व्यवहार में उनकी चर्या निरीह-प्राणियों की विराधना से वंचित हो जाती है, सर्वथा सजग एवं प्रमाद-विमुक्त रहती है। वास्तव में उपयोग पुरस्सर सम्यक्रूपेण प्रवृत्ति करना 'समिति' है। मन, वचन एवं काय को अशुभ प्रवृत्ति से विमुख रखना 'गुप्ति' है। इतना ही नहीं, अपितु मन, वचन एवं काय इन त्रिविध योग के सत्य, असत्य, सत्यामृष एवं असत्यामृष अर्थात् व्यवहार ये चार-चार प्रकार करके स्पष्टतः समझाया है कि साधक केवल सत्यपूर्ण और व्यवहार समन्वित भाषा का प्रयोग करे, असत्य एवं सत्यामृषा भाषा कदापि अंशतः न बोले, इस प्रकार मन के चिन्तन एवं काय योग को भी पूर्णतः नियन्त्रण में रखे। समिति प्रवृत्ति रूप है, गुप्ति निवृत्ति रूप

है। समिति-गुप्तियों का मापदण्ड 'अहिंसा' है। यह त्रिविध गुप्ति एकान्ततः निवृत्ति रूप ही नहीं, प्रवृत्ति रूप भी होती है, अतएव प्रवृत्ति अंश की अपेक्षा से उन्हें समिति कहते हैं। समिति में नियमतः गुप्ति होती है, क्योंकि उसमें शुभ में प्रवृत्ति के साथ जो अशुभ से निवृत्ति रूप अंश है, वह नियमतः गुप्ति अंश ही है। श्रमण प्रवचन माताओं की आज्ञा का अक्षरशः आचरण करता है, जिससे वह कृतकृत्य हो जाता है।

12. **प्रतिक्रमण-** 'आवश्यक' आत्म-बोधि और आत्म शुद्धि का वैज्ञानिक उपक्रम है, करणीय अनुष्ठान है, श्रावकत्व एवं श्रमणत्व की आधारशिला है। श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका के लिये प्रातःकाल एवं सायंकाल करना अनिवार्य है, जो षट्विध रूप है।[19] उनकी क्रमशः अभिधा सामायिक, चतुर्विंशति-स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान के रूप में है। इन आवश्यक अनुष्ठान द्वारा आत्मा रूप दर्पण में कर्मों की धूल को पोंछ देने पर परमात्मा रूप बिम्ब उसमें प्रतिबिम्बित हो जाता है। अध्यात्म साधक देह में रहते हुए भी विदेहत्व को साध लेता है। सामायिक आवश्यक में जिस समदर्शिता की साधना की जाती है, उसके लिये भी अहंशून्यता अनिवार्य है एवं अहंशून्यता की विधायक प्रक्रिया वन्दना है। वन्दना के अनन्तर 'प्रतिक्रमण' का क्रम है। साधक में प्रतिक्रमण ज्ञाता-द्रष्टा भावमयी साधना को वृद्धिंगत करता है। जिससे उसकी आत्मा पाप से पंकिल नहीं बनती है। प्रतिक्रमण प्रकारान्तर से प्रायश्चित्त रूप है।[20] यह वह अग्निस्नान है, जो आत्म-कुन्दन को दीप्तिमय बना देता है। इतना ही नहीं, श्रमण का मन, शरद् ऋतु के निर्मल जल के समान विशुद्ध हो जाता है,[21] और वह भारण्ड पक्षी के समान अप्रमत्त होकर विचरण करता है।[22] यथार्थता यह है कि प्रतिक्रमण-आराधक साधक व्रतों एवं महाव्रतों की स्खलनाओं को बन्द कर देता है, और चारित्र में एकरूप होकर संयम में सम्यक् रूप से संस्थित रहता है। प्रति और क्रमण इन दोनों के संयोग से 'प्रतिक्रमण' शब्द का गठन हुआ है। प्रति का अर्थ- प्रतिकूल और क्रमण का तात्पर्य 'पद निक्षेप' है। प्रतिकूल अर्थात् प्रत्यागमन, पुनः लौटना ही वस्तुतः प्रतिक्रमण है। आक्रमण में बहिरंग आग्रह है, जबकि प्रतिक्रमण में आन्तरिक अनुग्रह है। पाप से स्व में लौट कर आना 'प्रतिक्रमण' है।[23] किं बहुना, प्रतिक्रमण के द्वारा श्रमण के चलित चरण सदाचरण में परिणत हो जाते हैं।

13. **गोचरी-** यह वह शब्द है, जिसका आदि रूप 'गोयर' है। गोयर का अन्य रूप 'गोयरग्ग' भी है। इसका वाच्यार्थ भी गाय के समान भिक्षा-प्राप्त्यर्थ भ्रमण करना है। गाय घास चरते समय स्वयं नितान्त जागृत रहती है। वह घास को इस प्रकार चरती है कि घास का मूलवंश सुरक्षित रह जाता है। इसी प्रकार श्रमण भी वस्तुतः मनःशास्त्र का ज्ञाता बन कर गृहस्थ के यहां पहुँचता है और उसे बिना कष्ट दिये नियमानुकूल यथायोग्य भिक्षा प्राप्त करता है। गृहस्थ पर उसके गृहीत आहार का किसी रूप से भार उत्पन्न नहीं होने देता है। वह श्रमण गृहस्वामी के अन्तर्मन को सजगता पुरस्सर पढ़ लेता है, उसके लिये अन्यान्य शुद्धियों के साथ भाव-शुद्धि सर्वोपरि है।

सारपूर्ण भाषा में यही कहा जा सकता है कि श्रमण की आचार-संहिता स्पष्टतः विशिष्ट है, उसकी

गम्भीरता किंवा अन्तःस्थल को समझने के लिये भी तत्सन्दर्भित शब्दावलि का प्रयोग और प्रयोजन जानना अनिवार्य है। इन शब्दों का अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना के माध्यम से वैज्ञानिक-विवेचन भी किया जा सकता है। जिससे शब्दों का हार्द सहस्र किरण दिनकर के स्वर्णिम-प्रकाश के सदृश अतिशय रूप से परिस्पष्ट होगा।

सन्दर्भ :-

1. श्रमं नयतीति श्रमणः।
2. नास्ति तिथिर्यस्य स अतिथिः।
3. स्वभावे चरणं-रमणं तन्मयत्वं वा चारित्रम्।
4. सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि-सर्वं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि।
5. उपस्थापयितुं योग्यं उपस्थापनीयम्।
6. अवश्यं कर्तव्यमित्यावश्यकम्।
7. आ-समन्ताद् गुणानां वश्यमात्मानं करोतीत्यावश्यकम्।
8. आ-समन्तादवश्या-वशगता भवन्ति इन्द्रिय-कषाययादि-भावशत्रवो यस्मात्तदावश्यकम्।
9. आचरन्ति इति आचार्याः।
10. आ मर्यादया चरति गच्छतीत्याचार्यः।
11. क-स्थानाङ्गसूत्र-4.3.323
    ख- बृहत्कल्प सूत्र, उद्देशक-4।
12. क- उप समीप अधीते यस्मादसौ उपाध्यायः।
    ख- स्वयं शास्त्राण्यधीते अन्यान् अध्यापयति इति उपाध्यायः॥
13. वालयं पंचविहं पण्णत्त। तं जहा- उण्णिए, उट्टिए, मियलोलिए, कोतवे, किट्टिसे। अनुयोगद्वार सूत्र, सूत्रांक-38।
14. ऊर्णस्येदमौर्णिकम्।
15. क- उत्तराध्ययन सूत्र- अध्ययन-26, गाथा-2,3,4।
    ख- स्थानांग सूत्र- स्थान-10, सूत्र-102।
    ग- अनुयोगद्वार सूत्र- आनुपूर्वीप्रकरण।
16. क- संलिख्यतेऽनया शरीर कषायादि इति संलेखना।- स्थानाङ्ग सूत्र-स्थान 2, उद्देशक- 2 वृत्ति।
    ख- ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र- 1.1 वृत्ति।
    ग- तत्त्वार्थवृत्ति- 7, 22 भाष्य, पृष्ठ-246।
    घ- प्रवचनसारोद्धार, 135।
    ङ- चारित्रसार-22।
17. उत्तराध्ययन सूत्र- अध्ययन-24, गाथा-2
18. स्थानाङ्ग सूत्र-स्थान- 10, समिति पद
19. अनुयोगद्वार सूत्र- आवश्यक प्रकरण-29
20. स्थानाङ्ग सूत्र-स्थान-10, प्रायश्चित्त पद
21. सारय सलिलं व सुद्धहियए- प्रश्नव्याकरण सूत्र, संवर, सूत्र-5
22. उत्तराध्ययन सूत्र- अध्ययन-4, गाथा-6
23. उत्तराध्ययन सूत्र- अध्ययन-29, प्रश्नांक-12